

एक स्कूल मैनेजर की डायरी के कुछ पन्ने-XVII

रिश्तों का सफ़र-II

फ़राह फ़ारूकी

रिश्तों के सफ़र के इस भाग में मैंने आपसी रिश्तों में छुपी सत्ता और बराबरी-ग़ैरबराबरी के एहसास की बात की है। साथ ही कई सवाल भी उठाने की कोशिश है। जैसे, रिश्तों में बदलाव क्या स्कूली माहौल और संस्कृति में बदलाव का बाइस बन सकता है? क्या जिसे बदलाव माना-समझा जा रहा है, वह बस आज़ी ही है? इल्मी-ज़हनी आख्यान एहसासात और इरादे को किस तरह और कैसे दर्शाता है? क्या इनका आपसी जुड़ाव ही मूल्य और क़दर उभारता है? आगे की दास्तान पेशे खिदमद है।

बदलाव क्या बस पानी का बुलबुला है?

कई बार 'मज़ाक' में ही सही वक़्त लेकर धीरज से मुद्दे समझने-सुलझाने की कोशिश पर हमारी वाइस प्रिंसिपल यह शेर पढ़ डालती थीं:

“हल होते हैं मसले शबनम मिज़ाजी से मगर
गुत्थियां ऐसी भी हैं कुछ, जिनको सुलझाती है आग”

मुझे यह 'इलज़ाम' कुबूल नहीं है, इसके बावजूद कि जिस ज़ब्बे से यह कहा गया है उसकी मैं क़दर करती हूँ। ऐसा नहीं है कि मैंने लोगों को उनके फ़र्ज़ और काम याद न दिलाए हों, लेकिन मैंने महसूस किया कि लोग काम करना और बच्चों के लिए अच्छा माहौल बनाना चाहते हैं। हम सभी की अपनी कमियां, मजबूरियां, दायरे, दीवारें हैं। जब लोग और उनकी परेशानियां पेचीदा हैं तो फिर आग और पानी से काम नहीं चलता। बेहतर हल ढूढ़ने-निकालने में वक़्त लगता है। हां, यह ज़रूर है कि मैं सज़ा में यकीन नहीं रखती। अकसर सज़ा तो इस बात की गवाही देती हुई लगती है कि एक तरह की संस्कृति, तहज़ीब दूसरे से बेहतर है बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि सज़ा के ज़रिए, कई बार, प्रभुत्व वाला दल उसे बेहतर क़रार देने का डंका बजा देता है। मैं यह भी यहां कह देना चाहूंगी कि मैं शाइस्तगी की राजनीति से भी वाकिफ़ हूँ। मैंने लोगों को इज़ज़त दी, इज़ज़त पाई लेकिन काम और फ़र्ज़ को तरजीह दी। यानी इज़ज़त, एहताराम की खूबसूरत ज़बान और बेहतर ताल्लुकात ने हमें फ़र्ज़ भुलाने का काम नहीं किया।

यह ज़रूर हुआ कि 'शबनम मिज़ाजी' को कमज़ोरी मान लिया गया। कमज़ोर समझने वालों में शुरू में टीचर, चपरासी से लेकर बच्चों तक सभी शामिल रहे। हां, क्योंकि मैं प्रिंसिपल साहब के साथ शुरू से ही ज़्यादा काम कर रही थी इसलिए वह जल्दी भांप गए थे कि मेरा मिज़ाज काम को खुशगवार माहौल भले ही दे दे लेकिन काम का दबाव बनाए रखता है। वह कहते भी रहे हैं, “मैडम ने बहुत काम लिया है मुझसे”। यह

बात उन्होंने, जहां तक मैं समझती हूं, कभी शिकायत नहीं कही। काम करने और चीजें होते-बनते देखने का लुफ़ हम दोनों ने मिलकर खूब उठाया है। अकसर कहते भी थे, “मैडम मैं तो स्कूल की खातिर कह रहा हूं। आप रहिए, मत जाइए, स्कूल में जो इतना काम हुआ है सब पीछे चला जाएगा। आज तक कोई मैनेजर इतनी अच्छी तरह स्कूल को, लोगों को जान ही नहीं पाया, जितना आपने जाना है”। इसके बाद थोड़ा रुककर कहते, “मेरा तो एक माइने में फ़ायदा ही है मैडम, कोई और इतना काम नहीं लेगा मुझसे जितना आपने लिया है। मैं तो स्कूल की खातिर बच्चों की खातिर कह रहा हूं”। हमारे प्रिंसिपल साहब की बात कई मुद्दे उभारती है। एक, वह शौक और मेहनत से काम ज़रूर कर रहे थे लेकिन काम करने के लिए इशारे का इंतज़ार था। तंत्र जिस तरह का है वहां ऊपरी कुर्सियां इतनी भारी-भरकम हैं कि औरों को खुदमुखतार फैसले लेने का हक़ नहीं देती हैं। जब लोगों को लम्बे वक़्त तक सोचने-समझने और बड़े मक़सद को तदबीरी शक़ल देने के मौक़े नहीं मिलते हैं तो लोग आहिस्ता-आहिस्ता सिर्फ़ पुर्जा बन जाते हैं बल्कि आज़ादी से भी डर ही लगता है। सत्ता के दर्जे, जो तंत्र की ऊपरी सिम्त से भारी-भरकम हैं, उन्हीं के हिसाब से सर उठाने और क़दम बढ़ाने की इजाज़त मिलती है। हमारी सोसाइटी के और लोगों का रवैय्या हमारे प्रिंसिपल साहब की तरफ़ अगर बेइज़्जती का नहीं रहा तो हाकिम का तो रहा ही है। कई बार पहल करने की छोटी कोशिशों को अगर सराहने की बजाय ऐतराज़ करके किनारे कर दिया जाता है तो हिम्मत टूट जाती है। रहनुमा का यह गुमान कि वह इल्म और अक़ल का गहवारा है और उन्हीं के तसव्वुर के हिसाब से क़दम बढ़ें अकसर लोगों को बुद्धिजीवी की तरह खिलने से रोकता है। कई बार अकादमिक या और तरह की पहल से इतिफ़ाक़ न रखते हुए भी मुझमें तजवीज़ों को नकारने की हिम्मत नहीं हुई है। खासतौर से उस सूरत में जब विकल्प की तरफ़ बढ़ने का रास्ता लम्बा हो। जैसे, हमारी वाइस प्रिंसिपल और उनके प्राइमरी के स्टाफ़ ने मुझे खुशी से बताया कि दूसरी से पांचवीं तक वह रोज़ बच्चों से खुशख़त और इमला (श्रुतिलेख) करवाने लगे हैं ताकि बच्चे बेहतर लिख पाएं। इस पहल को मैं सिर्फ़ सराह ही सकती थी। चाहे भाषा सीखने-सिखाने के शोध मुझे कुछ और बताते हों। हां, विकल्प की तरफ़ बढ़ने के लिए मैंने कई कार्यशालाएं ज़रूर करवाईं जिनसे हमारा स्टाफ़ शुरू में सहमत नहीं था, तो वह भी ठीक है।

इसी तरह सालाना जलसे के दिन हमारे इंचार्ज साहब ने जो शामियाना लगवाया वह बिलकुल शादी के रंगों का था यानी, लाल और सुनहरा। हमारे कई सोसाइटी के लोगों को महसूस हुआ कि मेहमानों के सामने कुछ कम चटकीले रंग मुनासिब रहते। भई, अगर आधे हिन्दुस्तान के खुशी मनाने के रंग यही हैं जो एक गहरी-लम्बी संस्कृति की देन है तो मैं अपनी तहज़ीब क्यों और कैसे उन पर थोप दूं। और हमें चंद मेहमानों के सामने अपने-आपको ‘सभ्य’ जताने के लिए अपने स्टाफ़ और बच्चों की खुशी पर छींट भी उछालने की क्या ज़रूरत है। स्कूल हो या फिर समाज तहज़ीब या संस्कृति के प्रभुत्व को लेकर इख़तलाफ़ चलते रहते हैं। इस जंग में यह तय होता है कि कौन अलगाव का शिकार होगा, कौन या किसकी संस्कृति मरकज़ पर होगी, कमज़ोर कौन और ताक़तवर कौन।

दूसरी अहम् चीज़ जो प्रिंसिपल साहब ने कही, वह थी कि मेरे जाने के बाद स्कूल फिर पुराने ढर्रे पर लौट आएगा। इसकी दो वजह हैं। एक, तंत्र में काम की हरकत और लय जब ऊपर बैठे अफ़सरों से तय होती है तो मेरे जाने के बाद सूरतेहाल बदलने के इम्कानात तो बनते हैं। यह बताता है कि सीढ़ीनुमा शक़ल और ऊपरी सिम्त पर भारी-भरकम कुर्सियां सिर्फ़ आरज़ी तौर पर ही लोगों को मौक़े और आज़ादी देती हैं। मौक़े निर्भर हैं इस बात पर कि सत्ता की ऊपरी गद्दी पर कौन बैठा है। दूसरी वजह यह भी है कि एक माइने में स्कूल में राजनीतिक बदलाव तो हुए जैसे सत्ता का बिखराव और बंटवारा लेकिन लोगों के यक़ीन, मूल्यों और सोच में ख़ास बदलाव नहीं था। फिर ताक़तवर की पैरवी-परस्तिश होगी, लोग अपने हक़ के लिए मिलकर दबाव नहीं बना पाएंगे, काफ़ी लोग हाशिये पर होंगे। चाहे औरतें मेरी मौजूदगी में हिम्मत महसूस करती हों लेकिन यह इस बात का सुबूत नहीं है कि उनकी या और लोगों की जैडरीय समझ में कोई बदलाव हुआ है। इसलिए सत्ता बदलने पर फिर हाशिये चूम सकती है। असल में अलगाव सिर्फ़ तंत्र का थोपा हुआ ही नहीं है इल्म से जूझने के बहुत कम मौक़े भी तो हैं।

बदलते-बहते रिश्ते और बदलता हुआ स्कूल

हां, मेरी मौजूदगी ने काफ़ी लोगों को नई हिम्मत तो दी और उन्होंने और मैंने मिलकर अपने रिश्ते तय किए। यह रिश्ते औपचारिक जामे से बाहर भी बह निकले और एक नया रूप-रंग इख़्तियार किया। जैसे, हमारी वाइस प्रिंसिपल के साथ मेरा अच्छा सफ़र रहा। पहले तो मुझसे नाराज़ रहीं कि मैंनेजिंग कमेटी ने बल्कि 'मैंने' उन्हें मर्जी के खिलाफ 'निचले दर्जे' की प्राइमरी कक्षाओं का इंचार्ज बना दिया, बाद में अपना रोल बखूबी निभाया। कई बार फोन आता था, "मैडम हमने तो जो पैसे बचे हुए थे उनके छोटे बिस्किट के पैकट और गिफ़्ट मंगा लिए हैं, स्पोर्ट्स-डे के दिन दे देंगे बल्कि आपके हाथ से बंटवा देंगे, बच्चों को ज़रा अच्छा लगेगा, आप को आना है"। या फिर, "मैडम, मैंने आपसे गेस्ट टीचर के बारे में बात की थी, उस लड़की से मैं मिली थी, बहुत ज़रूरतमंद है, उसकी भी मदद हो जाएगी। प्रिंसिपल साहब तो यूं ही टाला-मटोली कर रहे हैं। मैं सोच रही हूँ उसे बुला लूँ"। कई बार तरतीब से अलग काम करने पर अगर मुझे ऐतराज़ भी हुआ है तो हमारा रिश्ता कुछ इस तरह का बन गया था कि कहना मुश्किल होता था। जिस हक़ से मुझसे बात कही जाती थी उसमें यह गुंजाइश निकालना कि उनकी बात नकार दी जाए मुश्किल रहा है। ख़ैर, ज़्यादातर तो दलील ढूंढी, पारदर्शिता या लोकतांत्रिक इदारे बनाने की गर्ज़ और इरादे के हवाले से। हक़ और मोहब्बत की तकलीफ़दे राजनीति से तो घर-गृहस्थी घिरी-दबी है। स्कूल जैसे इदारे में तो इसे पहचानना और इससे ऊपर उठना दोनों ही की ज़रूरत है। जब बात के नए पहलू दिखाए गए हैं तो हमने एक-दूसरे की बात को तर्क के बिना पर समझा और कुबूल किया है। हां, मुझ पर यह इल्ज़ाम भी रहा है, "मैडम सुन सबकी लेती हैं, चाहे आगे चीज़ें हो पाएं या न हो पाएं"।

जब रिश्ते औपचारिक नीरसता से परे जाते हैं तो नए आयाम उभरते हैं। ज़मीनी रिश्तों के चस्के तो निराले ही हैं। अब हमारी वाइस प्रिंसिपल साहिबा अपनी उम्र और तजुर्बे के हवाले से मुझ पर ऐतराज़ और तम्बी कर सकती थीं। एक दिन मैं अपने बेटे के बारे में बात कर रही थी कि आजकल बारहवीं में होने की वजह से बहुत परेशान है क्योंकि हिसाब और जीव-विज्ञान दोनों ही मुश्किल परचे ले लिए हैं। मज़े में बोलीं "ज़ाहिद ने और आपने यह हिमाक़त की, एक ही पेपर दिलवाना चाहिए था"। अब रिश्ता है तो अहमक़ भी कहलवाना कुबूल करना होगा। कई लोगों के साथ मेरा गप्पबाज़ी का भी अच्छा रिश्ता रहा है। इस गप्पबाज़ी ने मुझे लोगों की सोच-समझ, रूढ़िवादी विचार, फ़िरकापरस्ती, तास्सुब वगैरा से परिचित करवाया। साथ ही हंसने-हंसाने के मौक़े फ़राहम किए। मैंने मैनेजर के रूप में अपने अंदाज़ में अनौपचारिक रिश्तों से बनी जगह का फ़ायदा खूब उठाया है। हमारे प्रिंसिपल, वाइस प्रिंसिपल के बीच अकसर ठनी रहती थी। ताल्लुकात बेहतर करने की 'गरज़' से कई बार यूं ही कह दिया, "अरे ऐसी बात नहीं है, अब तो कई बार आपकी तारीफ़ ही करते हैं और शिकायत तो आज तक कभी की ही नहीं"। यह तो कोशिश जारी रही, कि दोनों के बीच की ग़लतफ़हमियां बातचीत से दूर हो पाएं। कई बार ऐसा भी किया कि दूसरों की छोटी-मोटी गड़बड़ का इल्ज़ाम अपने सर ले लिया। सोचा यह कि भारी कुर्सियों की छुटपुट नादानियां नज़रअन्दाज़ कर दी जाती हैं जबकि लोगों के आपसी ताल्लुकात में चुभन पैदा करती हैं। अब इन ज़ुरतों का नुक़सान मुमकिन था लेकिन हुआ तो फ़ायदा ही। राजनीति ऐसा औज़ार है जिसे आप कई तरह इस्तेमाल कर सकते हैं: खुद को मज़बूती देने के लिए औरों में इख़तलाफ़ पैदा कर सकते हैं, सबको साथ ले सकते हैं, शिकने पैदा कर सकते हैं और उन्हें बराबर भी कर सकते हैं।

शबनम मिज़ाजी ताक़त या कमज़ोरी?

कुछ लोगों का रवैय्या मुझे कई तरह के सवाल उठाने पर मजबूर कर देता है। जैसे, क्या अगर कोई मर्द मैनेजर होता तब क्या इस तरह का रवैय्या होता? क्यों तमीज़ और इज़ज़त से बोलने को कमज़ोरी से जोड़ा जाता है? हमारे एक चपरासी साहब फ़ाइलों पर मेरे दस्तख़त लेने अकसर जामिया आते थे। मेरी क्लास सुबह 9:30 पर होती है लेकिन इस ख़याल से कि उन्हें स्कूल पहुंचने में देर न हो मैं नौ-सवा-नौ पर पहुंच जाती और उन्हें भी वक़्त पर आने की ताकीद करती। ज़्यादातर जनाब देर से पहुंचते थे। अब उनकी वजह से मैं क्लास में देर से क्यों पहुंचूँ जबकि दिल्ली की दूरियां तय करके मेरे तुलबा मेरा इन्तज़ार करते हैं। यह भी कई बार हुआ कि जब वह भागते-हांपते 9:30 पर

पहुंचे हैं तो मैं हस्ताक्षर करने के चक्कर में अपनी क्लास में लेट पहुंची। जब ज़्यादा लेट होते और मैं क्लास में होती तो मेरे फ़ोन पर लगातार 6-7 बार कॉल कर डालते थे। वह इंतज़ार क्यों करें! स्कूल से ताल्लुक रखने वाला हर फ़र्द मुझे सुबह सात बजे से रात दस-साढ़े दस तक फ़ोन कर सकता था। कई बार मैं कम और मेरे परिवार के लोग मेरे फ़ोन से ज़्यादा तंग आ जाते थे जबकि चपरासी साहब को अगर स्कूल के किसी काम से फ़ोन करो तो वह अपनी मर्जी के मालिक थे। जब चाहे कॉल लेते थे या नहीं भी लेते थे। ख़ैर, इसमें यह भी शामिल है कि उन्हें काम के लिए इंकार करना मेरे मुक़ाबले में कहीं ज़्यादा मुश्किल था।

एक दिन का फ़ोन का क़िस्सा हमारे दूसरे चपरासी साहब के साथ भी मज़ेदार रहा। मज़ेदार क्या उस वक़्त तो मेरी सिट्टी-पिट्टी ही गुम हो गई थी। हमारे एक चपरासी साहब प्रमोद गुप्ता जी थे। जब किसी काम से आते तो काफी बातें किया करते थे। प्रिंसिपल साहब से ज़्यादातर ख़फ़ा ही रहते थे। ख़फ़गी में और चीज़ों के अलावा यह भी शामिल था, ईद पर सबको मुबारकबाद दी, बोर्ड पर खुद लिखा, दीपावली में यह सब कुछ नहीं किया। एक दिन स्कूल में दोनों के बीच ज़्यादा ही कुछ बहसा-बहसी हुई। रात ग्यारह बजे के करीब मेरे पास फ़ोन आया, पहले तो कहा कि मैं प्रिंसिपल साहब के खिलाफ़ एक्शन क्यों नहीं लेती हूँ। फिर धमकी दी, “मैं मीडिया को बुला लूंगा कि प्रिंसिपल मुझे धर्म परिवर्तन के लिए मजबूर कर रहा है।” शायद पिये-पिलाए भी थे। मैंने कहा, “गुप्ता जी मैं ही कुछ चैनल को फ़ोन किए देती हूँ, बताइए कहां जमा करूं”। मुझे यकीन था कि बेबुनियाद इल्ज़ाम हैं फिर भी मैंने प्रिंसिपल साहब से दर्याफ़्त किया। पता चला कि उन्होंने कई दिन लगातार लेट आने पर चपरासी साहब को काफी डांट लगाई थी। जब मैंने बात बताई तो कहने लगे, “मैम, मैं तो जितना भी नॉन-मुस्लिम स्टाफ़ है उसका ज़्यादा ही लिहाज़ करता हूँ, आपने यह कैसे सोच लिया है।” यह लिहाज़ तो मैनेजिंग कमेटी ने हमेशा किया, चाहे चाइल्ड केयर छुट्टी (लगातार ज़्यादा) देने का मामला हो या फिर हमदर्दी की बिना पर किसी की बेवा को नौकरी का, इस चीज़ का ख़ास ख़याल रखा गया। बहरहाल, यह वाक़िया पहचान के बारे में कई चीज़ें कहता है। एक, रोज़मर्रा की छोटी-छोटी हरकतें लोगों को अलगाव का शिकार कर सकती हैं जैसे दीवाली की मुबारकबाद न देना। वैसे भी जब लोग अपने-आपको मज़हबी ऐतबार से या फिर जाति के, माली हैसियत के ऐतबार से एक बड़े समूह से अलग पाते हैं तब इन चीज़ों का एहसास बढ़ जाता है। दूसरी अहम चीज़ का एहसास जो मुझे हुआ वह था कि हमारी हैसियत सिर्फ़ इदारों के अंदर की हकीकत से प्रभावित नहीं होती। इस तरह की बेबुनियाद धमकी देने की ताक़त और हिम्मत हमारे गुप्ता जी को बाहरी समाज की ग़ैर-बराबरी से भी मिल रही थी। जब मैं ऐसी सूरत का तसव्वुर करती हूँ जहां किसी इदारे में चंद ही मुसलमान हों, वह भी तंत्र की निचली सीढ़ी पर और बाकी प्रभुत्व वर्ग के लोग हों तब क्या इस तरह का बेबुनियाद इल्ज़ाम मुमकिन हैं? आख़िर लोग ज़रूरी, ग़ैरज़रूरी आवाज़ और ताक़त कहां से पाते हैं?

हमारे एक और चौकीदार साहब की कहानी बहुत कुछ बताती है। उनकी तरक्की का मामला था, काफी ग़ैरज़रूरी खुशामद कर रहे थे। तरक्की तो तरतीब के हिसाब से होनी ही थी। डी.पी.सी. (DPC-Department Promotion Committee) करवाने में शिक्षा महकमे की तरफ़ से भी देरी हुई। अल्लाह-अल्लाह करके जब बोर्ड बैठा तब फ़ाइल में किसी चीज़ को लेकर ऐतराज़ हो गया। दूसरी बार जब कमेटी बैठी तो बोर्ड में कौन सदस्य होना चाहिए, कौन नहीं इस पर ऐतराज़ हुआ और काम अंजाम तक नहीं पहुंचा। जबकि हम खुद बहुत सतर्क थे और शिक्षा महकमे से लिखित में यह मांगा था कि बोर्ड की सदस्यता क्या होगी। ग़लती उनकी थी। अब तो इंतज़ार की इतिहा हो चुकी थी। जनाब सोच बैठे कि इन्तज़ामिया उनकी तरक्की नहीं चाहता। एक दिन जब मैं स्कूल पहुंची और ऑफ़िस के सामने से गुज़री तो शैरो-शायरी की आवाज़ सुनाई दी। अंदाज़ हुआ कि मुझी पर ताना कसने का निराला अंदाज़ है। पहले तो गुस्सा आया फिर बुलाकर पूछा तो पता चला यह शेर पढ़ रहे थे:

जुल्म तब तेरा दस्तूर हो जाएगा
दिल बगावत पर मजबूर हो जाएगा
तुम न छलकाओ शीश ए दिल
खुद छलकने पर मजबूर हो जाएगा।

खैर, बुलाया, बात की, सुलह-सफाई हुई। कुछ दिन बाद फिर से कमेटी बैठी और जनाब की तरक्की हो गई। अब जब मैं शैरो-शायरी याद दिलाती हूँ तो झेंप जाते हैं। कहते हैं, “वह तो बाजी बस ऐसे ही...”। खैर, शबनम मिज़ाजी कमज़ोरी के ख़ाले में लोगों को बराबरी का एहसास तो देती ही है।

मैंने कैन्टीन वाले नसीम भाई के बारे में पहले लिखा है। आपकी इत्तला के लिए अर्ज़ है कि नसीम भाई अब मेरी पसंद की आम-सी चाय बनाने लगे हैं। हां, वक़्त काफ़ी लगा मुझे और मेरी चाय को ख़ास से आम होने में। इसी तरह हमारे रफ़ीक़ हैं जो कम्प्यूटर पर काम करते हैं। अकसर स्कूल में जब अर्ज़ी ख़त वगैरा टाइप करने होते थे और वह ग़लतियां काफ़ी करते थे तो मैं उनकी सीट पर बैठकर खुद ही कर लेती थी। बहुत मोहब्बत से चाय के लिए पूछते थे। एक बार उन्होंने मेरा एक ज़ाती छोटा-सा काम किया था। जब स्कूल छोड़ते वक़्त उसके पैसे उन्हें देना चाहे तो उनकी आंखों में आंसू आ गए, बोले, “मैम अगर मेरे लिए आपके दिल में कहीं थोड़ी-सी भी जगह है, तो प्लीज़ यह रहने दें”।

अगर आपको ऊपर दी गई बातों से अंदाज़ा हुआ है कि शबनम मिज़ाजी की बीन गूँज बनकर गूँजी और मसलों के हल निकलते चले गए तो ऐसा नहीं है। बहुत से मुद्दों पर सख़्खी का रवैय्या अपनाया, भारी-भरकम फैसलों में तलख़-सख़्ख आवाज़ का सहारा लिया और कुर्सी की ताकत का ‘फ़ायदा’ उठाया। मेरे ख़्याल में मैंने स्कूल और बच्चों के हक़ में ही काम किया। जैसे हमारे स्टाफ़ का लगातार इस्सर रहा कि जुम्मे के दिन, नमाज़ की ख़ातिर स्कूल की जल्दी छुट्टी कर दी जाए। इस तजवीज़ में स्टाफ़ के सभी लोग एकजुट थे। यहां तक कि शिक्षा विभाग का एक सर्कुलर मुझे दिखाया गया जिसमें यह इजाज़त दी गई थी कि सरकारी मदद से चलने वाले अल्पसंख्यक इदारों में इस तरह की छुट्टी दी जा सकती है। इस मुद्दे पर बैठकों में बातचीत, बहस हुई लेकिन मैं फ़ायल नहीं हुई। मेरा कहना था कि हमारे स्कूल की छुट्टी जब 12:30 बजे हो ही जाती है तो इसकी क्या ज़रूरत है। अलग-अलग मस्जिदों में जोहर की नमाज़ अलग-अलग वक़्तों में (यानी 1 से 2.30 बजे तक) इसीलिए होती है कि लोग अपनी सहूलियत के हिसाब से नमाज़ अदा कर सकें। वैसे भी हमारे स्कूल से लगी मस्जिद है, अगर कोई स्कूल से किसी वजह से देर से निकले तो वहीं नमाज़ अदा कर सकता है। इस पर कहा गया कि जुम्मे के रोज़ का एहताराम होता है। मेरा कहना था कि बच्चों की एक घंटे की पढ़ाई का नुक़सान (अगर छुट्टी 11:30 पर होती है) तो जुम्मे के रोज़ की बेहुरमती ही हुई। एक साहब ने फ़रमाया कि वह घर जाकर नहा धोकर, कुर्ता-पाजामा पहनकर मस्जिद जाना चाहते हैं, तो मैंने कहा कि वह कई और साथियों की तरह यह एहतमाम सुबह से ही क्यों नहीं कर लेते। उस पर कहा गया कि सुबह से करने पर कपड़े नापाक होने का गंदी-गलीज़ छींट आने का डर रहता है। अब यह तो घर और मस्जिद के दो क़दम के रास्ते में भी मुमकिन था। सब महिला टीचर जिन्हें घर पर ही नमाज़ पढ़नी थी इस सिफ़ारिश में शामिल थीं। भई, घर जल्दी पहुंचने में तो सबका फ़ायदा है। हमारी बहस कभी अंजाम तक नहीं पहुंची। उनकी कमज़ोर दलीलों की ख़ातिर मुझे बच्चों का नुक़सान मंज़ूर नहीं था। हां, मैंने एक बार यह तो कहा कि अगर वह किसी और दिन जुम्मे के एक घंटे की बजाय दो घंटे देने के लिए तैयार हों तो यह बात मानी जा सकती है यह उन्हें कुबूल नहीं था। इस तरह के कई मसलों में मैंने अपने-आपको अकेले खड़ा पाया।

कभी-कभार यह भी हुआ है कि बच्चों ने बराहेरास्त किसी टीचर की बदज़बानी (गाली-गलौज) की, क्लास न लेने की शिकायत की तो जांच-पड़ताल के बाद प्रिंसिपल साहब से भी सख़्त अल्फ़ाज़ इस्तेमाल किए, “भई प्रिंसिपल साहब, चाहे आपको फ़ाइलों का काम छुट्टी के बाद करना पड़े, लेकिन यह देखभाल तो रखना आपकी जिम्मेदारी है कि सब क्लास लेंगे। मुझे अच्छी तरह पता है कि साहब 1 और 2 लगातार नाग़े कर रहे हैं। बेहतर है आप उन्हें समझा लें, चाहे एक्शन लें, वरना मुझे एक्शन लेना होगा”। खैर, मेरे एक्शन लेने की नौबत एकाध ही बार आई।

रिश्तों की ताक़त-नज़ाक़त

अब क़लम ने ज़्यादा सम्भल कर चलना शुरू कर दिया है, भई सत्ता के दर्जों का सवाल है। अब ऊपरी दर्जों की बात तो इसी तरह होगी। जी हां, मैं सोसाइटी के सीनियर साथियों की बात कर रही हूँ। यह तो खैर ‘मज़ाक़’ की बात हुई,

मैं उनकी बहुत इज़्जत करती हूँ। एक तो इस बात का शुक्रिया अदा करना चाहती हूँ कि उन्होंने मुझे इतनी बड़ी जिम्मेदारी के काबिल समझा। अब इसका दावा करना तो मुश्किल है कि मैं उन्हें काबिल लगी भी या नहीं, क्योंकि सीद्दीनुमा तंत्र में कमज़ोर को भी कई बार काबिल मान लिया जाता है ताकि अपनी ताकत बनी रहे। हां, मुझे काफी हद तक खुलकर काम करने की आज़ादी 'अता' की। साथ ही मदद भी की। मैं किसी भी वक़्त उनसे राय-मशविरा कर सकती थी, फ़ोन और मिलने-मिलाने के रास्ते हमेशा खुले रहे। बहुत सारे काम ऐसे हैं जो मैं उनकी मदद और साथ के बिना नहीं कर सकती थी। मुझे उन लोगों से बहुत कुछ सीखने का मौक़ा मिला। हां, इसका मलाल है कि कई बहुत अहम् फ़ैसलों में मेरी राय को एहमियत नहीं दी गई। मुझे लगता है कि अगर दी जाती तो बच्चों और स्टाफ़ के हक़ में और बेहतर फ़ैसले हो पाते। इसका ज़्यादा अंदाज़ा आपको मेरे अगले लेख से होगा।

बेनकाब गहराइयां

जिन्दगी में कुछ लम्हे ऐसे भी होते हैं कि पर्दे गिर जाते हैं और रिश्तों की नौइयत अयां हो जाती है। ऐसे ही चंद खूबसूरत और दर्द भरे लम्हे थे जब मैं मैनेजर के औहदे से इस्तीफ़ा देने के बाद स्टाफ़ से मुलाक़ात करने स्कूल पहुंची। वह दिन एक माइने में एक आइना था जिसमें रिश्तों की कशमकश, खिंचाव, दर्जे, कुर्बतें सब कुछ सुलझे हुए से मेरे सामने खड़े थे और मेरे काम और रिश्तों को ज़बान बख़्श रहे थे।

ऐसे कई लोग थे जो मेरे जाने से खुश थे। यह भी कहना था कि मैंने इस्तीफ़ा नहीं दिया बल्कि मुझे इस औहदे से हटा दिया गया है। यह भी हुआ कि, एक साथी मुझे देखते हुए क़रीब से गुज़र गए बग़ैर किसी दुआ-सलाम के। ऐसा नहीं है कि मुझे यह तवक्क़ह थी कि वे मेरा अदब-इज़्जत करें। मैं तो बस आपकी तवज्जह बदले रुख़ और तेवर की तरफ़ दिला रही हूँ। इस कड़वाहट में मेरी ज़्यादातियां और ग़लतियां ज़रूर शामिल होंगी। यह भी बताना अहम् है कि यह वे लोग थे जिनके हाथ से सत्ता बिखरी-बंटी थी। यह रवैय्या यह तो बताता ही है कि हम लोगों ने लोकतांत्रिक इदारा, जिसमें सत्ता चंद के हाथों में न रहकर साथियों में बंटी हो, कुबूल नहीं किया है। साथ ही यह रवैय्या यह भी दिखाता है कि मैं उन्हें एहमियत का वह एहसास नहीं दे पाई जो वह चाहते थे। न ही लोकतंत्र हम लोगों के मूल्यों का हिस्सा बन पाया। इनके अलावा ऐसे लोग भी थे जिनको मेरे होने न होने से कोई खास फ़र्क़ नहीं पड़ रहा था।

इसी तरह हमारी स्टाफ़ सैकेटरी साहिबा ने तो विदाई तक़्रीब तक में नाराज़गी का इज़हार किया। जो उन्होंने कहा उस पर मुझे ऐतराज़ नहीं है बल्कि इस बात की खुशी है कि हमेशा की तरह आमने-सामने बात हो पाई। उनका कहना था, "मैम, हमें बीच मझदार में छोड़कर क्यों जा रही हैं, कोई दूसरा आएगा वह यह सब हालात नहीं समझ पाएगा, हमें अपनी बिल्डिंग में पहुंचवाइए"। बात तो उनकी ठीक थी, मैं स्कूल को परेशानी में छोड़ रही थी, लेकिन न वह परेशानी मेरी पैदा की हुई थी और न उसका हल मेरे हाथ में था। मैंने पूरी ईमानदारी से उन्हें यकीन दिलाया कि मैं स्कूल के साथ हमेशा रहूंगी और शायद फ़िलहाल मैनेजर न रहकर स्कूल की ज़्यादा मदद कर पाऊंगी। मझदार और मदद का ज़िक्र अगली किस्त में करूंगी।

मैं तो कम लेकिन हमारे बाकी साथी उनके मेरे साथ इस रवैय्ये पर काफी नाखुश थे। कम से कम 25 टीचर और बाकी स्टाफ़ (कुछ मिलाकर 60-65 फ़ीसदी स्टाफ़) ने मुझे बेहद मोहब्बत से विदा किया। जबकि मैंने पहुंचने से कुछ देर पहले ही बताया था लेकिन सभी मिलकर विदाई तक़्रीब का एहतमाम कर चुके थे। चाय-नाश्ते के अलावा, फूल और तोहफ़े का भी बन्दोबस्त किया था। रास्ते में ही एक टीचर का फ़ोन आया, बोलीं, "मैम, हमने एक बहुत बुरी ख़बर सुनी है, क्या सच है?" मैंने कहा, "जी अस्मा मैंने इस्तीफ़ा दे दिया है। बहुत दिन से स्कूल छोड़ना चाह रही थी, आप तो जानती हैं, लेकिन यह ख़्वाहिश थी कि कुछ हालात बेहतर हो जाएं तब छोड़ूं। अब कुछ तो स्टेबिलिटी है, नई टीम भी अच्छी है, फ़िलहाल छोड़ना ही बेहतर है।" मैंने यह भी कहा कि इज़्जत से जाना ही बेहतर होगा। इस पर बोलीं, "मैम हम सबने आपकी दिल से इज़्जत की है। अकसर हम लोग हैरान भी होते थे कि इतने-इतने स्कूल के हालात ख़राब हुए, लेकिन आपको किसी ने कुछ नहीं कहा। नारेबाज़ी हुई प्रिंसिपल साहब से लेकर सैकेटरी मैडम तक सब को बुरा भला

कहा गया, लेकिन आपको किसी ने कुछ नहीं कहा। सब जानते हैं कि आपने हमेशा स्कूल के हक का सोचा और टीचर्स के बारे में सोचा। मैम, लोग कुर्सी से जुड़े होते हैं, आप तो दिलों से जुड़ी रहीं।” जब मैं स्कूल पहुंची तो एक टीचर साहब बोले, “मैम, हमने आपके साथ बहुत ज़्यादा की, आपको अकेला छोड़ दिया।” इशारा स्कूल के बदले हालात की तरफ था, जिस सिलसिले में मैं बहुत परेशान रही, जिसका कुछ अंदाज़ा हमारे टीचर हज़रात को था। असर और परेशानी तो उन सबकी मुझसे ज़्यादा थी लेकिन एक-दूसरे का हाथ थामे थे। एक और टीचर मिले उन्होंने कहा, “स्कूल में हर एक को लगता रहा मैम हमारे ज़्यादा करीब हैं, मैम हमारे ज़्यादा करीब हैं। हर एक से किसी न किसी तरह राबता रखा, किसी से फ़ोन पर बात कर रही हैं, किसी से मिल रही हैं।” बाद में तक़रीर में भी यह बात कही गई, “मैम, किसी एक ग्रुप के साथ नहीं रहीं, सभी को बराबरी का एहसास दिया। कैसे बहुत धीरे-धीरे करके स्कूल को बदला। कितना एक्टिविटीज़ आपकी सदारत में होती रही हैं।” एक और साहब ने कहा, “मैम, आपने हम सबसे बहुत शफ़क़त की है और हम सब भी आपसे बहुत मोहब्बत करते हैं।” ग़ज़लें पढ़ी गईं, शैरो-शायरी भी हुई। इस तक़रीब में प्रिंसिपल साहब शामिल नहीं थे क्योंकि उनके एक रिश्तेदार काफ़ी संगीन हालात में अस्पताल में थे। उन्होंने कई बार इस बीच में फ़ोन किया।

जब मैं स्कूल से निकली तो वाइस प्रिंसिपल समेत सभी असातज़ा की आंखों में आंसू थे। कई फूट-फूटकर रो रहे थे। मेरे लिए भी आंसू रोकने मुश्किल हो गए। जब मैं स्कूल मैदान में खड़ी अपनी गाड़ी में बैठने लगी तो दो टीचर दौड़ती हुई आईं और बोली, “मैम, प्लीज़ आप गाड़ी में यहां नहीं बाहर बैठिएगा।” इशारा उस रिवायत की तरफ़ था कि मैं उनके ‘आंगन’ को छोड़कर नहीं जा रही हूं। इसके बाद गाड़ी के दोनों तरफ़ टीचर खड़े हुए मुझे विदा कर रहे थे। उन्हीं के साथ स्टाफ़ के और लोग जैसे चपरासी, चौकीदार, दफ़्तर के लोग भी खड़े थे। यह मोहब्बत भरी विदाई किसी मसनूई तैयारी की मोहताज नहीं थी बल्कि मेरे और उनके रिश्ते की तरजुमानी कर रही थी।

यह मोहब्बत, दर्द और ज़ज्बात भरी कहानी लिखना काफ़ी मुश्किल रहा लेकिन मेरे बच्चों को ऐतराज़ है, कहना है, “अम्मा आपने तो बस अपनी तारीफें लिख डाली हैं।” ऐसा अगर आपको भी महसूस हुआ तो मैं यह कहना चाहूंगी कि शायद इंतज़ाम का काम देखने का मैं एक ‘अलग’ नहीं तो अपना अपनाया हुआ तरीक़ा आपके सामने रखना चाहती थी। कमियां बेशुमार रहीं। स्कूल कुछ बदला तो बहुत कुछ नहीं भी बदला बल्कि तारीख़ की तरह जहां से सफ़र शुरू किया था आज अपने-आपको वहीं खड़ा पाती हूं। शायद इस सफ़र से कुछ मोती आप भी चुन लें। स्कूल से जुड़ना और यह सफ़र मुझे इक़बाल का यह शेर याद दिला देता है:

खुदा तुझे किसी तूफ़ान से आशना कर दे
कि तेरे बहार की मौजों में इज़तराब नहीं। ♦

लेखिका परिचय: दिल्ली विश्वविद्यालय के लेडी श्रीराम कॉलेज में बीएलएड कोर्स से जुड़ी रही हैं। आजकल जामिया मिलिया इस्लामिया के शिक्षा विभाग में प्रोफेसर हैं।